• श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः •

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ।

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंचनकर ।

वर्ष १२ | गौराब्द ४८०, मास—नारायण १८, वार—क्षीरोदशायी
शनिवार, २९ पोष, सम्वत् २०२३, १४ जनवरी, १९६७ | संख्या ८

श्रीव्रजविलास-स्तव :

[गतांकसे आगे]

प्रेम्णा ये परिबण्टनेन कलिताः सेवाः सदैवोत्सुकाः
कुर्वाणाः परमादरेण सततं दासा वयस्योपमाः ।
वंशी-दर्पण-दूत्यवारि-विलसत्ताम्बूल-वीजादिभिः
प्राणेशं परितोषयन्ति परितस्तान् पत्रिमुख्यान् भजे ॥३७॥

ताम्बूलार्पण-पादमर्द्दन-पयोदानाभिसारादिभि-
र्वृन्दारण्यमहेश्वरीं प्रियतया यास्तोषयन्ति प्रियाः ।
प्राणप्रेष्ठसखीकुलादपि किलासंकोचिता भूमिकाः
केलीभूमिषु रूपमञ्जरिमुखास्ता दासिकाः संश्रये ॥३८॥

तृणीकृत्य स्फारं सुखजलधिसारं स्फुटमपि
स्वकीयं प्रेम्णा ये भर-निकर-नम्रा मुररिपोः ।
सुखाभासं शश्वत् प्रथयितुमलं प्रौढकुतुकाद्-
यतस्ते तान् धन्यान् परमिह भजे माधवगणान् ॥३९॥

तस्याः क्षणादर्शनतो म्रियन्ते, सुखेन तस्याः सुखिनो भवन्ति ।
स्निग्धाः परं ये कृतपुण्यपुंजाः प्राणेश्वरीप्रेष्ठगणान् भजे तान् ॥४०॥

सापत्न्योच्चयरम्यदुज्ज्वलरसस्योच्चैः समुद्वृद्धये
सौभाग्योद्भट-गर्वविभ्रमभृतः श्रीराधिकायाः स्फुटम् ।
ग विन्दः स्मरफुल्लवल्लव-वधूवर्गेण येन क्षणं
क्रीडत्येष तमत्र विस्तृतमहापुण्यं च वन्दामहे ॥४१॥

ब्रह्माण्डात् परमुच्छलत्सुखभरं तत्कोटिसंख्यादपि
प्रेम्णा कृष्ण-सुरक्षिताः प्रतिमुहुः प्राप्ताः परं निर्वृताः ।
कामं तत्पदपद्मसुन्दरनखप्रान्तिस्खलद्रेणुका-
रक्षाव्यग्रधियः स्फुरन्ति किल ये तान् गोपवर्यान् भजे ॥४२॥

प्राणेभ्योऽप्यधिकैः प्रियैरपि परं पुत्रैर्मुकुन्दस्य याः
स्नेहात् पादसरोज-युग्मविगलद्घर्मस्य बिन्दोः कणम् ।
निर्मञ्छ्योरुशिखण्ड-सुन्दर-शिरश्चुम्बन्ति गोप्यश्चिरं
तासां पादरजांसि सन्ततमहं निर्मञ्छयामि स्फुटम् ॥४३॥

इन्द्रनील-खुरराजिताः परं, स्वर्णबद्धवरशृङ्गरंजिताः ।
पाण्डुगण्ड-गिरिगर्वखर्विकाः पान्तु नः सपदि कृष्णधेनवः ॥४४॥

यासां पालन-दोहनोत्सवरतः सार्द्धं वयस्योत्करैः
कामं रामविराजितः प्रतिदिनं तत्पादरेणूज्ज्वलः ।
प्रीत्या स्फीतवनोरु-पर्वतनदीकच्छेषु बद्धस्पृहो
गोष्ठाखण्डलनन्दनो विहरते ताः सौरभेयीर्भजे ॥४५॥

मणिखचित-सुवर्ण-श्लिष्ट-शृङ्गद्वय-श्री, रसितमणि-मनोज्ञज्योतिरुद्यत्खुराढ्यः ।
स्फुरदरुणिमगुच्छान्दोल-विद्योतिकण्ठः, स जयति वकशत्रोः पद्मगन्धः ककुद्मी ॥४६॥

मृदुनवतृणमल्पं सस्पृहं वक्त्रमध्ये, क्षिपति परमयत्नादल्प-कण्डूञ्च गात्रे ।
प्रथयति मुरवैरी हन्त यद्वत्सकानां, सपदि किल दिदृक्षे तत्तदाढौकनानि ॥४७॥

नक्तन्दिवं मुररिपोरधरामृतं या, स्फीता पिबत्यतिमबाधमहो सुभाग्या ।
श्रीराधिका-प्रथितमानमपोह दिव्य,-नादैरधो नयति तां मुरलीं नमामि ॥४८॥

(क्रमशः)

अनुवाद—

जो प्रेमके वशीभूत होकर परम आदरपूर्वक सदा-सर्वदा बंशी, दर्पण, द्यूत-क्रीड़ा, जल, कपूर द्वारा सुवासित ताम्बूल तथा वीणा आदि सेवोपकरणोंके द्वारा श्रीकृष्णका आनन्द-विधान करते हैं एवं श्रीकृष्णके सेवाकार्योंको परस्पर बाँटकर तन, मन और वचनसे निरन्तर प्राणेश्वर कृष्णकी परिचर्या करते हैं, उन सखातुल्य पत्रि आदि कृष्ण-सेवकोंका मैं भजन करता हूँ ॥३७॥

ताम्बूल अर्पण, पाद-सम्वाहन, जल-दान और अभिसार आदि सेवाकार्योंके द्वारा जो वृन्दावनेश्वरी श्रीश्रीराधिकाको सदैव प्रसन्न रखती हैं, प्राणप्रिय ललिता आदि सखियोंसे भी अधिक प्रियतमा हैं एवं जो राधाकृष्णके अति गुप्त केलिस्थानमें भी निःसंकोचरूपमें गमनागमन करती हैं, श्रीमती-राधिकाकी अतिशय प्रिय उन श्रीरूपमंजरी आदि सेविकाओंका आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥३८॥

जो अपने प्रचुर सुखरूप अमृतको तृणकी भांति अतिशय तुच्छ समझ कर अर्थात् अपनी सुखेच्छाका परित्याग करके प्रेमसे नत होकर प्राणनाथ श्रीकृष्ण को सुख देनेके लिये ही पुनः पुन आनन्दोत्फुल्ल होकर यत्न करते हैं, उन धन्यवादके पात्र श्रीकृष्णके भक्त-गणका भजन करता हूँ ॥३९॥

जो श्रीमती राधिकाको क्षणकाल भी दर्शन न करने पर मृतप्राय हो पड़ते हैं, जो श्रीमती राधिका के सुखमें ही अपनेको परम सुखी मानती हैं और जिन्होंने जन्म-जन्मान्तरोंमें राशि-राशि पुण्यका संचय किया है, उन स्नेहार्द्र हृदयोंवाली श्रीराधिका की परिचारिकाओंका मैं बारम्बार भजन करता हूँ ॥४०॥

श्रीराधिकाके शृङ्गार रसकी पुष्टिके लिए नायिकाके सौभाग्य, गर्व, विभ्रम आदि गुणोंसे युक्त सापत्न्य भावोंवाली जिन व्रजवनिताओंके साथ श्रीकृष्णने क्षणभर तक क्रीड़ा की थी, उन परम सौभाग्यवती चन्द्रावली आदि व्रजरमणियोंका मैं सदैव भजन करता हूँ ॥४१॥

जो ब्रह्माण्ड-सुखसे अनन्त गुण अधिक परम सुखको प्राप्त कर प्रतिक्षण अपनेको परम सुखी

मानते हैं, श्रीकृष्ण करोड़ों ब्रह्माण्डोंसे भी अधिक प्रेम द्वारा जिनकी निरन्तर रक्षा करते हैं तथा जो श्रीकृष्ण चरणकमलोंके नखके अग्रभागसे स्खलित रजःकणकी रक्षा करनेमें सर्वदा व्यग्रचित्त रहते हैं, मैं उन्हीं गोपश्रेष्ठोंका निरन्तर भजन करता हूँ ॥४२॥

जो अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्रोंसे भी श्रीकृष्ण को अत्यधिक स्नेह करनेके कारण श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंसे विगलित घर्म बिन्दुओंको अपने सूक्ष्म वस्त्रांचलसे पोंछ कर उनके मयूर पंखसे सुशोभित मस्तकका बारम्बार चुम्बन करती हैं, उन गोपियोंके चरणकमल स्थित रजःकणोंका मैं निरन्तर मार्जन करता हूँ ॥४३॥

जिनके खुर इन्द्रनीलमणियोंसे बँधे हुए अतिशय सुशोभित हैं, स्वर्णजटित सींगोंसे जो बड़ी ही सुन्दर लग रही हैं तथा उज्ज्वल शुभ्रवर्ण द्वारा जो पाण्डुवर्णवाले क्षुद्र पर्वतोंके गर्वको खर्व करती हैं, श्रीकृष्ण की वे धेनुसमूह मेरी रक्षा करें ॥४४॥

श्रीबलदाऊ और श्रीदामादि सखाओंके साथ मिलित होकर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण प्रतिदिन जिनके पालन-दोहन आदि उत्सवोंमें निमग्न रहते हैं तथा जिनकी खुरोंसे उड़ते हुए धूलिकणोंसे उज्ज्वल-कलेवर होकर प्रीतिपूर्वक निविड़ वनों, विशाल पर्वतों एवं नदीके तट पर सतृष्ण होकर विहार करते हैं, उन सब सुरभि-नन्दिनी धेनुओंका मैं भजन करता हूँ ॥४५॥

मणि-खचित स्वर्णद्वारा जिनके दोनों सींगें सुशोभित हैं, नीलकान्त मणिकी मनोहर कान्ति द्वारा जिनके चारों खुर अतिशय सुन्दर लगते हैं और जिसके गलेमें लालरङ्गका हार झूल रहा है, श्रीकृष्णका वह पद्मगन्ध नामक साँड़ जययुक्त हो ॥४६॥

श्रीकृष्ण बड़े प्यारसे जिनके मुखमें अल्प-अल्प कोमल और नवीन-नवीन घासका ग्रास दे रहे हैं तथा जिनके अङ्गोंको बड़े प्रेमसे खुजला रहे हैं, मैं उन गोवत्सोंको कब उछलते-कूदते हुए देखूँगा ? ॥४७॥

जो दिनरात मुरारिके अधरामृतका निर्बाध रूपसे पान कर अतिशय पुष्ट हो रही है तथा जो अपने मधुर नाद द्वारा श्रीमती राधिकाके प्रगाढ़तम मानको दूर कर देती है, उस मुरलीको मैं सदा-सर्वदा नमस्कार करता हूँ ॥४८॥

(क्रमशः)

स्मार्त्तका काण्ड

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम् ।
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकं
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतंचाभिपद्यते
अनर्थोपशमं साक्षात् भक्तियोगमधोक्षजे ॥

भुवनमंगलावतार श्रीव्यासदेव महाभारतादि अनेक शास्त्रोंका प्रणयन कर और नाना प्रकारके साधनोंका अवलम्बन करके भी चित्तकी प्रसन्नता अर्थात् शान्ति नहीं लाभ कर सके। तब उन्होंने अपने गुरु श्रीनारदजीके उपदेशानुसार भक्तियोगका अवलम्बन किया। समाधिकी अवस्थामें उन्होंने स्वरूपशक्ति-समन्वित पूर्ण पुरुषका दर्शन किया और उसके अतिरिक्त और भी दो शक्तियोंका दर्शन किया—एक जीव या तटस्था शक्ति और दूसरी बहिरङ्गा या मायाशक्ति। यह अपरा मायाशक्ति उस पूर्ण पुरुषके पराग्भावमें नित्य आश्रित होकर अवस्थित है। तटस्थ जीव स्वरूपतः सत्त्व, रजः और तमः—इन त्रिगुणोंसे अतीत अणुचैतन्यमयी पराशक्ति होकर भी अपनी दुर्बुद्धिसे अर्थात् स्वाभाविक स्वतन्त्रताका अपव्यवहार कर मायाके भोक्ता बननेकी चेष्टा कर माया द्वारा मोहित हुए हैं। वे अपनेको सत्त्व-रजस्तमोगुणात्मक जड़-सम्बन्धी वस्तु समझकर अनर्थग्रस्त हो रहे हैं। ऐसे जीव बद्धजीव कहलाते हैं। अधोक्षज भगवान श्रीकृष्णमें साक्षात् भक्तियोगके प्रभावसे ही जीवके इस अनर्थ की निवृत्ति होती है।

इन बद्धजीवके अतिरिक्त दूसरे प्रकारके जीव भी वर्त्तमान हैं। वे अपनी स्वतन्त्रताका सद्व्यवहार करके अपने स्वरूपमें स्थित होकर श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर रहकर शुद्ध पूर्ण नित्यानन्दसागरमें निमग्न रहते हैं। वे 'नित्यमुक्त' कहलाते हैं। पूर्वोक्त नितान्त भाग्यहीन जीव अनादि कालसे सेव्य कृष्णचन्द्रकी सेवा परित्याग कर—उन्हें आनन्द सुख न देकर, अपनेको एकमात्र अधोक्षज कृष्णदास न जान कर मायाकी कपटतापूर्ण मोहिनी छलनामें अपने स्वरूपको भूलकर नितान्त तुच्छ अक्षज ज्ञानका आश्रय लेकर अहंकार विमूढ़ हो रहे हैं अर्थात् अपने को 'अचित्', 'जड़' अभिमान कर रहे हैं। इस भगवत्सेवाविमुख भोगमय संसारमें आकर प्रकृति (माया) का भजन कर पुरुषाभिमानमें त्रिताप-ज्वालासे दग्धीभूत हो रहे हैं। इस विरूपाभिमानी अर्थात् अनात्म देह और मनमें आत्मबुद्धिकारी, अद्वय ज्ञान कृष्णसेवाहीन जड़भोक्ता जीव ही 'प्रकृतिजन', 'स्मार्त्त', या कर्मी कहलाते हैं। कृष्णको अर्थात् कृष्ण-स्वरूप, स्व-स्वरूप और भक्ति-स्वरूप को विस्मृत होने पर भी इनको परमकारुणिक कृष्ण नहीं भूलते। उनकी दासी संसार—दुर्गाधि-

छात्री महामाया अपने प्रभुके विद्रोही इन सभी जीवोंको त्रितापानलमें दग्ध कर परिशुद्ध और परिमार्जित करती हैं।

दुःखकी उस कठोर अग्नि-परीक्षासे भवदावाग्नि-दग्ध जीवकी बुद्धि क्रमशः आर्त्तियुक्त होने पर वह सर्वथा निर्वेदग्रस्त होकर अत्यन्त आर्त्तस्वरसे "त्राहि मां मधुसूदन" कहकर क्रन्दन करते-करते शान्ति लाभ करनेकी चेष्टा करता है। यदि ऐसी चेष्टा करते-करते वह अज्ञानसे भी परम सत्य विष्णु-वैष्णवोंकी सेवा कर दे, तो तत्काल ही उसकी सुकृतिका उदय होता है। इस प्रकारके पुंजीभूत सुकृतिके प्रभावसे कोई-कोई सौभाग्यवान जीव एकमात्र साधु, शुद्ध कृष्णभक्तका सन्धान पाकर उनके निकट आत्मनिवेदन करने पर उनके निर्मल संगप्रभावसे क्रमशः निर्मल होकर अनर्थ निवृत्त होने पर शुद्ध कृष्ण भजनका अधिकार लाभ करता है। हमें सर्वदा इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि बद्धजीव अपने इन्द्रियों द्वारा भोगोंमें मत्त रहकर अक्षज-ज्ञान रूपी मापदण्डसे हरि-गुरु-वैष्णवको पहचाननेमें या उनका सन्धान पानेमें असमर्थ हैं। क्योंकि हरि-गुरु-वैष्णव नित्य हैं, प्रपञ्चातीत वैकुण्ठ में स्थित हैं। वे जड़-इन्द्रियोंके ग्राह्य या गोचरीभूत नहीं हैं। ऐसी मापनेकी चेष्टाको—अचिन्त्य वस्तुको तर्कके गोचर करनेकी चेष्टाको ही 'आरोहवाद' या 'अधिरोहवाद' कहते हैं। सम्पूर्ण रूपसे आत्मसमर्पण या आत्मनिवेदन करने पर ही अर्थात् ऐकान्त भावसे शरणागत होनेपर वह प्रपञ्चातीत अद्वयज्ञान वस्तु बद्धजीवोंके प्रति कृपापरवश होकर प्रपञ्चमें प्रकटित या आविर्भूत होते हैं। ऐसे नित्य सेवककी शरणागतिसे नित्य सेव्य वस्तुके कृपा-आविर्भावको ही 'अवतार' वाद या 'अवरोह' वाद कहते हैं।

बद्धजीवोंको अपने नित्य अतुल प्रेमसुखसागरमें डूबानेके लिए परम दयालु कृष्णचन्द्र कभी स्वयंरूप अवतारी होकर, कभी अंशावतार रूपसे अथवा कभी अपने प्रियतम निजजनको प्रपंचमें भेज कर शिक्षागुरु महान्त.स्वरूपसे अवतीर्ण होते हैं। केवल यही नहीं, जीवोंके प्रति असीम दयार्द्र होकर साक्षात् अभिन्न चैतन्यरसविग्रह सर्वशक्तिमान् श्रीनामरूपसे अवतीर्ण होकर उनके शुद्ध निर्मल प्रेमसेवारत चित्तमें अपने रूप-गुण-लीलादिका उदय-कराकर कृतार्थ करते हैं। अतएव हम देखते हैं कि बद्धजीव शरणागत होनेसे ही अद्वयज्ञान अधोक्षज हरि-गुरु-वैष्णवोंकी कृपा प्रभावसे मायामुक्त होकर पुनः स्वस्थान वैकुण्ठमें गमन कर वैकुण्ठपतिकी नित्य सेवा करनेमें समर्थ होते हैं। जिस प्रकार मेघका जल स्वभावतः निर्मल होने पर भी पृथिवी में वर्त्तमान नाना द्रव्यके साथ मिश्रित होकर अव्य-वहार्य हो जाता है, और नाना प्रकारके दैहिक रोगोंका कारण बन जाता है और रसायन—तत्त्व-विदों द्वारा रासायनिक प्रक्रियाके माध्यमसे परि-ष्कृत होने पर पुनः स्वाभाविक निर्मलता प्राप्त करता है, उसी प्रकार सज्जन स्वभावयुक्त शुद्ध कृष्णभक्त बद्धजीवको दिव्यज्ञान प्रदान कर उनकी निखिल पापराशिको दूर कर जीवात्माके स्वाभा-विक शुद्ध निर्मल वृत्तिको नित्य कृष्णप्रेमास्वादनमें लगाकर उन्हें कृत-कृतार्थ करते हैं और जो व्यक्ति

उस अद्वयज्ञानकी कृपा लाभ करनेके लिए व्याकुल न होकर अपने संकीर्ण परिछिन्न बाह्यज्ञानसे हरि-गुरु-वैष्णवोंको या उनकी अप्राकृत चेष्टाको समझने का प्रयास करते हैं, वे इन्द्रिय सुखको चरितार्थ करनेके लिए फलभोगकामी होकर कभी स्वर्ग और कभी नरकमें भ्रमण कर अनादि दुःख सागरमें निमज्जित होकर गोते लगाते रहते हैं। ऐसे स्मार्त्तों के विकर्म-विषयमें आलोचना कर उन्हें कृष्ण-सेवा विहीन असदाचारसे निवृत्त होनेके लिए कातर अनुरोध करूँगा और हरि-गुरु-वैष्णवोंके चरणोंमें उनके उद्धारके लिए आन्तरिक आवेदन करूँगा।

—जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

(गताङ्कसे आगे)

जड़-जगत्

१—जड़ जगत क्या है ?

जड़-जगत् चिज्जगतका ही प्रतिफलन है।** आदर्शमें जो सर्वोत्तम है, प्रतिफलनमें वह सर्वाधम होता है। आदर्शमें जो अत्यन्त निम्नस्थ है, प्रतिफलनमें वह अत्यन्त उच्चस्थ होता है। दर्पणमें प्रतिफलित अङ्ग-प्रत्यङ्गका विपर्यय-भाव विचार करने पर यह सहज ही समझा जा सकता है।"

—जै० ध० ३१ वाँ अ०

२—जड़-जगतकी क्या स्वतन्त्र-सत्ता है ?

"जड़-जगतकी स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है, वह चिज्जगत्का हेय प्रतिफलनमात्र है। आदर्शमें जो सब संस्थान, भाव और प्रक्रिया शुद्ध और मंगल स्वरूप हैं, वे सभी यहाँ अमंगलरूपमें प्रतिफलित होते हैं। जो-जो धर्म वहाँ आश्रयरूपसे नित्य मंगल विधान कर रहे हैं, उन-उन धर्मोंका प्रतिफलन यहाँ पुण्य कहलाता है। जो-जो धर्म वहाँ व्यतिरेक रूपसे मंगल विधान कर रहे हैं, वे सभी धर्म प्रतिफलित होकर यहाँ अमंगल उत्पन्न कर रहे हैं और वे ही पाप कहलाते हैं।"

—चै० शि० २ य खण्ड ७।१

३—जड़-जगत् क्या मिथ्या है ?

"मायिक जगत् मिथ्या नहीं है, कृष्णकी इच्छा से यह जगत् सत्य है। परन्तु इस जगत्में आकर हम जितने भी प्रकारके 'मैं और मेरा' रूप अभिमान करते हैं, वे ही मिथ्या हैं। जगत्को जो व्यक्ति मिथ्या कहते हैं, वे मायावादी हैं और इसलिए वे लोग अपराधी हैं।"

—जै० ध० ७ वां अ०

४—जड़-जगत् मिथ्या क्यों नहीं है ?

"यदि इस परिदृश्यमान जगतको मिथ्या कहा जाय, तो इसमें अर्थ—साधन क्रिया किस प्रकार

होती ? घड़ेमें पानी लानेसे अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं। घड़ेको मिथ्या नहीं कहा जा सकता, केवल नश्वर कहा जा सकता है। ठीक उसी प्रकार परिदृश्यमान जगत् अर्थ-साधक होनेके कारण मिथ्या नहीं हो सकता।"

—त० मु० १०२

५—जगत् मिथ्या न होने पर भी किस प्रकार नश्वर है ?

"यह विश्व सच्चिदानन्द तत्त्वसे उत्पन्न होनेके कारण नित्य सत्य है—ऐसा कहनेसे तर्कहत होकर व्यभिचारका उदय होता है। इस विश्वको ब्रह्मका विवर्त्त कहकर "नितान्त मिथ्या', कहनेसे तर्कहत मिथ्या बोलना हुआ। अतएव 'यह विश्व सत्य होकर भी नश्वर है'—ऐसा कहनेसे सत्यकी प्रतिष्ठा होती है। जिस प्रकार चिन्तामणि सर्गादि प्रसव करती है, उसी प्रकार पारमेश्वरी शक्तिने इस नश्वर जगत् को प्रसव किया है।"

—'प्रमाण-निर्देशः', श्री भा० मा० १।१५

६—संसारमें आसक्ति क्या मंगलदायक है ?

" 'संसार' 'संसार' करे मिछे गेल काल।
लाभ ना हइल किछु घटिल जञ्जाल॥
किसेर संसार एइ, छायाबाजी प्राय।
इहाते ममता करि वृथा दिन जाय॥"

"अर्थात् इस संसारमें आसक्ति करना केवल बन्धनका कारण है और समयको नष्ट करना मात्र है। इस छाया बाजीके संसारमें आसक्ति करनेसे काल बेकार ही अतिवाहित हो जाता है।"

—'निर्वेद-लक्षण-उपलब्धि', ४, क०

७—जड़ जगतमें भोगका क्या मूल्य है ?

"इन्द्रिय तर्पण बई भोगे आर सुख कइ,
सेउ सुख अभाव-पूरण।
जे सुखेते आछे भय, ताके 'सुख' बले न,
ताके 'दुख' बले विज्ञ जन॥"

"अर्थात् भोगमें इन्द्रिय तर्पण मात्र सार है और वह सुख भी केवल अभाव पूरण मात्र है। जिस सुखमें भय हो, वह सुख 'सुख' नहीं हैं, बल्कि दुःख मात्र है।"

—'निर्वेद-लक्षण-उपलब्धि' ३ क० क०

८—महत्तत्त्व, अहंकार, पंचभूत, पंचतन्मात्राएँ और जीवोंकी इन्द्रियाँ इनका कैसे सृजन होता है ? जीव क्या हैं ?

"चिदैश्वर्य--प्रधान परव्योममें कृष्णसे अभिन्न नारायण विराजमान हैं। उनके व्यूहगत महा-संकर्षण भी श्रीकृष्णके विलास विग्रहांश हैं। वे चिच्छक्ति बलसे अपने एकांशसे सृष्टिकालमें चिज्जगत् और मायिक जगत्की मध्यसीमा-रूपा विरजा में नित्य शयन कर दूरस्थिता छायारूप मायाशक्तिके प्रति ईक्षण करते हैं। उस समय उस चिदीक्षण स्वरूपाभासरूप द्रव्यशक्तिमय प्रधानपति रुद्ररूपी शम्भु निमित्तांश मायाके साथ सङ्ग करते हैं, परन्तु कृष्णके साक्षात् चित्बलरूप महाविष्णु के प्रभावके बिना वे स्वयं कुछ नहीं कर सकते। इसलिए शिवशक्तिरूपा माया भी प्रधानगत उपा-

दान है। इन दोनोंकी क्रिया—चेष्टामें कृष्णांश संकर्षणके अंशरूप महाविष्णु आद्यावतारूपसे अनुकूल होनेपर ही महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महाविष्णुके अनुकूलमें शिवशक्ति क्रमशः अहंकार एवं आकाशादि पंचभूत, तन्मात्रा और जीवके मायिक इन्द्रियोंकी सृष्टि करती हैं। महाविष्णुके किरण-कण-रूप अंश-समूह ही जीवरूपसे उदित हुए हैं।"

—ब्र० स० ६।१०

चिज्जगत्

१—चिज्जगत् क्या असम्पूर्ण है ?

"गोलोक वैकुण्ठका प्रेम भण्डार सर्वदा परिपूर्ण है; नित्यप्रेमास्पद भगवान श्रीकृष्णचन्द्र द्वार खोल कर जीवोंको सब समय बुला रहे हैं।"

—कृ० स० ९।५

२—'व्रज' क्या है ? 'व्रज' शब्दका क्या अर्थ है ?

"मायिक जगत्स्थित जीवके चिद्विभागमें वैकुण्ठ तत्त्वके आविर्भावको 'व्रज' कहते हैं। 'व्रज' शब्द गमनार्थ-सूचक है।"

—कृ० स० ५।२

३—वैकुण्ठ क्या खण्ड और ससीम तत्त्व है ?

विशेष धर्मके द्वारा नित्यधाममें जो वैचित्र्य स्थापित हुआ है, वह नित्य होने पर भी समस्त वैकुण्ठ-तत्त्व अखण्ड-सच्चिदानन्दस्वरूप है। क्योंकि वह प्रकृतिसे अतीत तत्त्व है, अर्थात् देश-काल और भावके द्वारा प्राकृत सभी तत्त्व खण्ड-खण्ड हुए हैं परन्तु परतत्त्वमें वैसा सदोष-खण्ड-भाव नहीं है।"

—कृ० स० १।३०

४—जित् जगतके सम्बन्धमें वर्णन क्या जड़से गृहीत और कल्पित है ?

कोई-कोई ऐसा कह सकते हैं कि 'जिन्होंने इस प्रकारसे वैकुण्ठ-भावका वर्णन किया है, वे सभी जड़ भावोंमें चित्तत्त्वका आरोप कर पश्चात् कुसंस्कारके द्वारा उसमें मुग्ध होते हैं और फिर इन सभी संस्कारोंको कूटयुक्ति द्वारा इस प्रकार स्थापन किया है। वास्तविक वैकुण्ठ और भगवद्विलासका वर्णन सभी प्राकृत है'—ऐसा सिद्धान्त केवल तत्त्व-ज्ञानाभावके कारण ही उत्पन्न होता है। जिन्होंने गहराईके साथ चित्तत्त्वकी आलोचना नहीं की है, वे स्वभावतः ऐसा तर्क करते हैं। क्योंकि मध्यमाधिकारी व्यक्ति तत्त्वके पार पाने तक सर्वदा ही संशयाक्रान्त होकर संसृति और परमार्थके बीच दोदुल्यमान चित्तयुक्त होते हैं। वस्तुतः जो सब विचित्रताएँ जड़-जगतमें देखी जाती हैं, वे सभी चिज्जगत्के प्रतिफलनमात्र हैं। चिज्जगत् और जड़-जगतमें यही पार्थक्य है कि चिज्जगतमें सभी वस्तुएँ आनन्दमय और निर्दोष हैं और जड़-जगतमें सभी वस्तुएँ क्षणिक सुख-दुःखमय और देश-काल निर्मित हेयत्वसे परिपूर्ण हैं। अतएव चिज्जगत्का सभी वर्णन जड़की अनुकृति नहीं, बल्कि उसका वांछनीय आदर्श है।"

कृ० स० १।२९

५—चिज्जगतके लीला-पीठ और कृष्ण-विग्रह आदि क्या काल्पनिक जड़ हैं, या चिन्मय हैं ?

"चिद्व्यापार ही मूल पदार्थ है; विशेष और विचित्रता उसमें नित्य वर्त्तमान हैं। चित्व्यापारके द्वारा कृष्णका चिन्मय धाम, चिन्मय रूप, चिन्मय नाम, गुण और लीला प्रतिष्ठित हैं। शुद्ध-चिद्बुद्धि विशिष्ट और माया-सम्बन्ध रहित व्यक्ति द्वारा ही चिन्मयी लीलाएँ आस्वादनीय हैं। चिद्धाम, चिच्छक्ति-प्रकाशित चिन्तामणि-गठित लीला-पीठ और कृष्ण-विग्रह—सभी चिन्मय हैं।"

—ब्र० सं० ५।३२

६—चिज्जगत् किस वस्तु द्वारा गठित है ? चिज्जगत्के कल्पवृक्ष, कामधेनु आदि क्या प्रदान करते हैं ?

"जिस प्रकार मायाशक्तिने जड़ पंचभूत द्वारा जड़-जगतका गठन किया है, उसी प्रकार चिच्छक्ति ने चिद्वस्तुरूप चिन्तामणिके द्वारा चिज्जगत्की रचना की है। साधारण चिन्तामणिकी अपेक्षा गोलोककी भगवदावास-गठन-सामग्रीरूप चिन्तामणि अत्यन्त दुर्लभ और उपादेय है। साधारण कल्पवृक्ष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फल प्रदान करता है, और कृष्णधामके कल्पवृक्ष प्रेमवैचित्र्य रूप अनन्त फल प्रदान करते हैं। साधारण कामधेनुको दोहन करने मात्रसे दूध देती हैं और गोलोक की कामधेनु सर्वदा शुद्धभक्त-जीवोंकी क्षुधा-तृष्णा निवृत्तिकारक चिदानन्दस्रावी प्रेमप्रस्रवणरूप दूध-समुद्र प्रदान करती हैं।"

ब्र० सं० ५।२९

७—चिद्धामकी जड़जगतमें अवस्थिति और जड़स्पर्शाभाव क्या जीव-बुद्धिके गोचर है ?

"चिद्धाम किस प्रकार त्रिपाद-विभूतिमय होकर भी निकृष्ट एक पाद विभूतियुक्त जड़ जगतमें अवस्थिति लाभ करते हैं, यह जीवकी क्षुद्रचिन्ता और बुद्धिसे अतीत है और कृष्णकी अचिन्त्यशक्तिका प्रभाव-परिचायक है। गोकुल चिन्मय धाम है, इसलिए वे प्रपंचमें उदित होकर भी किसी भी प्रकारसे जड़देश-कालादि द्वारा कुण्ठित नहीं होते, और परम वैकुण्ठतत्त्व रूपसे अविकुण्ठावस्थामें विराजमान हैं।"

ब्र० सं० ५।२

८—समस्त गोकुलोपकरण क्या गोलोकमें वर्त्तमान हैं ?

"नागर-नागरियोंका विचित्र भेद, तत्तत् जनों की रस-विचित्रता, भूमि, जल, नदी, पर्वत, गृहद्वार, कुञ्ज और गाय आदि समस्त गोकुलोपकरण ही ठीक उसी रूपमें समाहित-भावसे गोलोक में हैं। केवल जड़बुद्धि विशिष्ट व्यक्तियोंकी जो जड़-प्रतीति है, वह गोलोकमें नहीं है।"

ब्र० सं० ५।

९—चिज्जगत् और जड़जगत्के धर्ममें पार्थक्य कहाँ है ?

"भूत और भविष्यत् शून्य शुद्ध वर्त्तमान काल ही चिद्धाममें विराजमान है। धर्म धर्मी भेदसे जड़-देशका परिच्छेदापरिच्छेद चिद्व्यापारमें नहीं है। इसलिए जो सभी धर्म जड़-जगतमें मायिक-देश-

कालावच्छिन्न बुद्धिके द्वारा विरुद्ध जैसे जान पड़ते हैं, वे ही अविरुद्धरूपसे तथा उपादेयरूपसे चिज्जगत्में वर्त्तमान हैं।"

ब्र० सं० ५।३३

१०—कृष्ण चिज्जगत्में किस प्रकार रमण करते हैं ?

"कृष्ण ऐश्वर्यमय चिज्जगत्में आत्मशक्तिको लक्ष्मीरूपसे प्रकटित कर स्वकीया-बुद्धिसे रमण करते हैं।"

ब्र० सं० ५।३७

११—गोलोकमें कृष्ण किसके साथ किस बुद्धि से रमण करते हैं ?

"गोलोकमें आत्मशक्तिको शतसहस्र गोपीरूप से पृथक् कर स्वकीय भाव विस्मृतिपूर्वक उनके साथ रमण करते हैं।"

ब्र० सं० ५।३७

१२—विभिन्न रसोंके भक्त चिज्जगत्में क्या-क्या स्थान प्राप्त करते है ?

"इस विचारसे भक्तिभाव-पंच प्रकारके हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार। तत् तत् भाव-प्राप्त भक्ति तदुचित कृष्ण स्वरूपसे नित्य सेवा कर चरममें तदुचित प्राप्य स्थान लाभ करते हैं। उस रसानुरूप चित्स्वरूप, तदुचित महिमा, तदुचित सेवा-पीठरूप आसन, तदुचित गमनागमन रूप यान एवं स्वीय रूप--समृद्धिकारी चिन्मय सभी गुण-भूषण प्राप्त करते हैं। जो शान्त रसके अधिकारी हैं, वे शान्तिपीठरूप ब्रह्म–परमात्मधामको प्राप्त करते हैं, जो दास्यरसके अधिकारी हैं, वे ऐश्वर्यगत बैकुण्ठ--धामको प्राप्त करते हैं और जो शुद्ध सख्य, वात्सल्य और मधुर रसके अधिकारी हैं, वे वैकुण्ठके ऊपर स्थित गोलोकधामको प्राप्त करते हैं।"

(क्रमशः)

—जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

पंचम वृष्टि (तृतीय धारा)

ज्ञान-विचार

भावावस्थाको प्राप्त साधकोंकी ज्ञानालोचना के विषयमें कैसी चेष्टा होती है, यह जानने की इच्छा कुछ लोगोंको हो सकती है। भावोदयसे पूर्व ही वैधी भक्तिके साधन-कालमें ही साधकको भागवत शास्त्रके सम्पूर्ण वेदान्त तत्त्वका ज्ञान एक प्रकार से हो गया होता है साथ ही उनका अनर्थ—अज्ञान भी दूर हो गया होता है। भाव उदित होने पर उसके आस्वादनके सिवा ज्ञानके दूसरे अंशोंकी

आलोचना नहीं होती। ज्ञान पाँच प्रकारके होते हैं—

(१) इन्द्रियार्थज्ञान।
(२) नैतिकज्ञान।
(३) ईश्वर ज्ञान।
(४) ब्रह्मज्ञान।
(५) शुद्धज्ञान।

[१] इन्द्रियार्थज्ञान—

इन्द्रियविशिष्ट जीवमात्रको इन्द्रियज्ञान सम्भव है। इन्द्रियोंके द्वारा बाह्यजगतके भावसमूह स्नायवीय शिराओंके माध्यमसे मस्तिष्कमें पहुँचाये जाते हैं। मन सूक्ष्म या अंतरेन्द्रिय है। वह अपनी पहली वृत्ति द्वारा उन भावोंको बाह्य जगतसे संग्रह करता है। मनकी दूसरी वृत्ति द्वारा वे संग्रहीत भावसमूह स्मृति-पटलमें संरक्षित होते हैं। तीसरी वृत्ति द्वारा इन भावोंके सम्मिलन और वियोगके द्वारा कल्पना और विभावना आदि कार्य सम्पन्न होते हैं। मन अपनी चौथी वृत्ति द्वारा अनेक प्रकारके संग्रहीत भावोंको अलग-अलग श्रेणियोंमें विभक्त कर उनकी संख्याको लघु करता है और किसी संमिश्रित लघु भावको पुनः विभक्त कर उनकी संख्यामें वृद्धि करता है। पाँचवी वृत्ति द्वारा उन सुसज्जित भावोंका युक्त-अर्थ निकालता है। इसीका नाम युक्ति है। युक्ति द्वारा भले-बुरेका निर्णय किया जाता है। युक्ति द्वारा ही सारे मानस और जड़ विज्ञान आविष्कृत होते हैं। जड़ विज्ञान अनेक प्रकारके होते हैं—जड़गुण विज्ञान (Science of matter and motion), चौम्बक विज्ञान (Magnetism), वैद्युतिक विज्ञान (Electricity), आयुर्वेद विज्ञान (Medicine), शरीर विज्ञान (Physiology), दृष्टि विज्ञान (Optics), संगीत विज्ञान (Music), तर्कशास्त्र (Logic), और मनस्तत्त्व (Mental Philosophy) आदि। द्रव्यगुण और द्रव्यशक्तिके विज्ञानसे नाना प्रकारके शिल्पों और कारुकार्यों (Art and manufacture) के आविष्कार होते हैं। विज्ञान और शिल्प—ये दोनों मिल कर बृहद्-बृहद् कार्य करते हैं। धूम्रयान (Railway), तड़ित् वार्तावह (Electrical wire), अर्णवपोत (Ships), और मन्दिर तथा गृह-निर्माण (Architecture)—ये सब इन्द्रियार्थ ज्ञानके अन्तर्गत हैं। देशका ज्ञान अथवा भौगोलिक ज्ञान और काल ज्ञान (Geography & chronology), ज्योतिष (Astronomy)—ये भी इन्द्रियार्थ ज्ञान ही हैं। प्राणी विज्ञान (Zoology) एवं धातु विद्या (Minerology) तथा अस्त्रचिकित्सा (Surgery)—ये भी इन्द्रियार्थ ज्ञान ही हैं। जो लोग इसी ज्ञान तक सीमित रहना चाहते हैं, वे ऐसे ज्ञानको साक्षात् ज्ञान या Positive knowledge कहते हैं। मानव-प्रकृति केवल मात्र इन्द्रियज साक्षात् ज्ञानमें ही आबद्ध नहीं रहना चाहती, इसीलिए वह इन्द्रियातीत ज्ञानमें अधिकार प्राप्त करती है।*

* सुखाशयं बहिः पश्यन् देही चेन्द्रियरन्ध्रकैः।
वातायनैर्गृहीवान्तस्तत्त्वं वेत्ति न बाह्यवित्॥
तस्मादनर्थानर्थाभान् विविच्य विषयानिति।
उत्सृजेत् परमार्थार्थी बालरम्यानहीनिव॥
(नारदीय हरिभक्तिसुधोदये १९।३७-३८)

[२] नैतिक ज्ञान—

इन्द्रियार्थज्ञानमें जगतके हिताहितकी विवेचना-पूर्वक एक नीतितत्त्वका योग करनेसे ही नैतिक ज्ञानका उदय होता है। श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके साथ रूप आदि उनके विषयोंका संयोग ही सुख और दुखका मूल कारण है। अर्थात् मनके अनुकूल विषयके संयोगसे सुख और प्रतिकूल विषयोंके संयोग से दुःख होता है। ऐसे-ऐसे सम्पूर्ण प्रकार के सुख-दुःख नैतिकज्ञानके विषय हैं। क्योंकि इन घटनाओं के आधार पर ही युक्तिद्वारा नीतिशास्त्रकी कल्पना की गयी है। साथ ही सुखकी वृद्धि तथा दुःखका ह्रास करनेके लिये नाना प्रकारकी नीतियाँ—विधि-विधान भी आवश्यक होते हैं। नीतियाँ अनेक प्रकार की हैं, जैसे—राजनीति (Politics) दण्ड-नीति (Penal code), वणिक नीति (Laws of trade), प्रयोजन विज्ञान (Utilitarianism), श्रम विभाग (Division of labour), शारीर-नीति (Rules of health), संसार-नीति (Socialism), जीवन-नीति (Rule of life), भाव साधन (Training and development of feelings) इत्यादि। केवल-नैतिकज्ञानमें परलोकज्ञान या ईशज्ञानका अभाव होता है। कुछ लोग नैतिकज्ञानको भी साक्षात् ज्ञान मान कर उसे ही Positivism या निश्चयज्ञान कहते हैं। परन्तु मनुष्यकी वृत्ति इस ज्ञानसे भी सन्तुष्ट न रह कर इससे भी आगे बढ़नेकी चेष्टा करती है और बढ़ती भी है। नैतिक-ज्ञानमें नाम-मात्रके लिये धर्म-अधर्म और पाप-पुण्य होते हैं तथा नैतिक-ज्ञानके शारीरिक, मानसिक और सामाजिक फल भी हैं; परन्तु मनुष्यके मरनेके पश्चात् उसके द्वारा उन नीतियोंके पालनका फल यश या अपयशके अतिरिक्त और कुछ नहीं बच रहता, उनसे इसके आगे और कुछ प्राप्तिकी आशा भी निरर्थक है।*

[३] ईश्वर ज्ञान—

संसारके समस्त पदार्थोंका गठन, उनमें परस्पर सम्बन्ध, उनमें एक-दूसरेके अभावोंको दूर करनेमें परस्पर सहयोग तथा सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रोंके नियमन आदि विषयोंकी आलोचना करने मानव बुद्धि यह स्थिर करती है कि यह जगत कदापि स्वयं आविर्भूत नहीं हो सकता है; किसी एक प्रधान ज्ञानस्वरूप तत्त्वके द्वारा ही जगतकी सृष्टि हुई है;

---

* अर्थशास्त्रेण किं तात यत् स्वमंस्मृतिवर्द्धनम्। शास्त्रश्रमेण किं तेन येनात्मैव विहिंस्यते॥
नीतिभिः सम्पदस्ताभिर्वह्वयः स्युर्ममता दृढाः। ताभिर्बद्धो भवाम्भोधौ निमज्जत्येव दुर्मतिः॥
(हरिभक्तिसुधोदय ९।१८-१९)

यदि वा दुर्मतिः कश्चिद्बाह्यलक्ष्मीमवेक्षते। तथापि नीतिभिः किं स्यात् सेव्यः श्रीशो हि सर्वदा॥
(हरिभक्तिसुधोदय ९।२७)

वह तत्त्व एक सर्वशक्ति सम्पन्न व्यक्ति हैं*। वे जगत् के पूजनीय हैं। कुछ लोगोंका सिद्धान्त यह है कि उसीने जगतकी सृष्टि की है; इसलिये उसकी कृतज्ञता स्वीकार करके उसकी पूजा करनी चाहिए। उनकी पूजा करनेसे वे सन्तुष्ट होकर हमें और भी सुख-सुविधा प्रदान करेंगे। वे हमारे सब प्रकारके अभावों तथा दुःखोंको दूर करेंगे। कुछ लोगोंका सिद्धान्त यह है कि उन्होंने अपने उच्चस्वभाववश हमारी सृष्टि करके हमारी सुख-समृद्धिके लिये सब कुछ किया है। वे हम लोगोंसे अपने उपकारोंके बदले कुछ भी आशा नहीं रखते। इस प्रकार अनेकों अस्थिर सिद्धान्तोंसे युक्त ईश्वरविश्वासका नैतिक-ज्ञानके साथ संयोग करके ईश्वरज्ञानकी स्थापना होती है। किसी-किसी सेश्वरज्ञानवादीके मतानुसार कर्त्तव्य कर्मोंका भलीभाँति आचरण करनेसे पुरस्कारके रूपमें स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति होती है। तथा अकर्त्तव्य कर्मोंसे नरक आदि क्लेश प्राप्त होते हैं। वर्णाश्रम धर्म, अष्टांगयोगादि क्रियाएँ, तपस्या, देशविदेशोंके विभिन्ननामोंवाले ईशसाधन रूप धर्मों की व्यवस्थाएँ—इन सबको ईश्वरज्ञानसे ही उत्पन्न पृथक्-पृथक् विधान समझना चाहिए। कुछ परिमाणमें ज्ञान और समस्त कर्म ही इस ज्ञानके अन्तर्गत हैं। इस ज्ञानमें जीवका नित्यसिद्ध स्वरूप-बोध नहीं है। इस ज्ञानमें अवस्थित मनुष्य जब इस ज्ञान की क्षुद्रता उपलब्धि करते हैं, तब अधिकतर उन्नति कैसे हो, इसके लिये व्यग्र हो उठते हैं। ऐसी व्यग्रता के समय जो लोग अधीरता लक्षण चापल्यवशतः युक्तिको ही बारम्बार पिसते रहते हैं, उनकी युक्ति आगे बढ़नेका मार्ग न पाकर शब्दकी लक्षणावृत्ति का अवलम्बन करती है। युक्तिका यहीं तक अधिकार है, फल यह होता है कि लक्षणावृत्ति उस पुरुषके हृदयमें व्यतिरेक चिन्ताका जन्म दे देती है। जो देखा जाता है, सुना जाता है, अनुभव किया जाता है, उसके ठीक विपरीत भावका नाम व्यतिरेक-चिन्तन है। जैसे, जगतमें आकार है, इसलिये प्राप्य-तत्त्व निराकार है। विकार है, इसलिये प्राप्यतत्त्व निर्विकार है। गुण है, इसलिये प्राप्यतत्त्व निर्गुण है। विशेष है, इसलिये प्राप्य तत्त्व निर्विशेष है। ऐसी व्यतिरेक-चिन्तावाले व्यक्ति उक्त लक्षणोंवाले एक निर्विशेष तत्त्वकी कल्पना करके उसीमें अपनी चरम गति खोजते हैं। वे इससे आगे नहीं बढ़ पाते। ऐसे स्थलमें ईश्वर ज्ञान—ब्रह्मज्ञान हो पड़ता है। परन्तु जो लोग धैर्यावलम्बनपूर्वक आत्मामें चित्-तत्त्वकी खोज करते हैं, वे पाँचवें शुद्धज्ञानको प्राप्त करते हैं।

---

* श्रेयस्त्वं कतमद्राजन् कर्मणात्मान ईहसे। दुःख हानिः सुखवाप्ति श्रेयस्तन्नेह चेष्यते॥
न जानामि महाभाग परं कर्मापविद्धधीः ब्रूहि मे विमलं ज्ञानं येन मुच्येय कर्मभिः॥
(भा० ४।२५।४५)

श्रेयसामिह सर्वेषां ज्ञानं निःश्रेयसं परम्। सुखं तरति दुष्पारं ज्ञाननौ व्यसनार्णवम्॥
(भा० ४।२४।७५)

[४] ब्रह्मज्ञान—

ब्रह्मज्ञान ही चौथा ज्ञान है। ब्रह्मज्ञानका कथन यह है कि जगत अविद्या-कल्पित अर्थात् मिथ्या है। वस्तु केवल एक है, उसका नाम है—ब्रह्म। जगत् और जगत्के सम्बन्ध अज्ञान या माया कल्पित हैं। अविद्याश्रित ब्रह्म ही जीव कहलाता है अर्थात् अविद्या द्वारा आच्छादित या अविद्यामें प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही जीव कहलाता है। अविद्या दूर होनेपर जीव ही ब्रह्म है। उस समय उसको शोक, भय और मोह नहीं होता। इस ज्ञानको या मतको मायावाद या अद्वैतवाद कहते हैं। अँग्रेजी भाषामें इसे पैन-थिज्म (Pantheism) करते हैं। अद्वैतवाद दो प्रकारका होता है—मायावाद और विवर्तवाद। मायावादके अनुसार कुछ भी नहीं है, फिर भी माया द्वारा जगत्को प्रतीत होती है। विवर्तवादमें किंचित परिमाणमें कार्य स्वीकृत है। विवर्त्तवाद भी दो प्रकारका होता है—विकार और विवर्त्त। तत्त्वको स्वीकार करके जो अन्यथा बुद्धि होती है, उसे विकार कहते हैं। जैसे दही दूधका विकार है। यहां दूधको स्वीकार करके उसीसे अन्य वस्तुरूप दधि विकार-स्वरूप उत्पन्न हुआ है। और तत्त्वको अस्वीकार कर जो प्रतीति भासमान होती है, उसे विवर्त्त कहते हैं। जैसे, रज्जुमें सर्पज्ञान अथवा शुक्तिमें रजतज्ञान। मायावाद और विवर्त्तवादमें जीववाद आदि और भी बहुतसे भिन्न-भिन्न प्रकार के मत हैं। परन्तु कुछ मूलभूत सिद्धान्त सबमें समानरूपसे मान्य है, हम संक्षेपमें उन्हें नीचे दे रहे हैं—

(१) ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। जो प्रतीत हो रहा है, वह सत्य नहीं है—व्यवहारिक प्रतीति मात्र है।

(२) जीव नहीं है; यदि है, तो वह ब्रह्मका विकार या विवर्त्त है*।

(३) जगत मिथ्या है।

---

* यद्यैव यदेकं चिद्रूपं ब्रह्ममायाश्रयतावलितं विद्यामयंतद्यैव तन्माया-विषयतापन्नमविद्यापरिभूतञ्चेत्य-युक्तिमिति जीवेश्वरविभागोऽवगतः। ततश्च स्वरूपसामर्थ्य-वैलक्षण्येन तद्वितयं भिन्नो विलक्षण-स्वरूपमेव दृष्टमित्यागतम्।

न चोपाधितारतम्यमयपरिच्छेद प्रतिबिम्बत्वादि व्यवस्थया तयोर्विभागः स्यात्। तत्र यद्युपाधेरना-विद्यकत्वेन वास्तवत्वं तद्यैविषयस्य तस्य परिच्छेद विषयत्वासम्भवः। निर्धर्मकस्य व्यापकस्य प्रतिबिम्बित्वायोगोऽपि, उपाधिसम्बन्धाभावात् बिम्ब प्रतिबिम्बभेदाभावात् दृश्यत्वाभावाच्च। उपाधि-परिच्छिन्नाकाशस्य ज्योतिरंशस्यैव प्रतिबिम्बो दृश्यते। नत्वाकाशस्य दृश्यत्वाभावादेव।

ब्रह्माविद्ययोः पर्यवसाने सति यदेव ब्रह्म चिन्मात्रत्वेनाविद्यायोगस्यात्यन्ताभावास्पदत्वाच्छुद्धं तदेव तदयोगादशुद्धो जीवः। पुनस्तदेव जीवाविद्याकल्पितमायाश्रयत्वादीश्वरस्तदेव च तन्मायाविषयत्वाः ज्जीव इति विरोधस्तदवस्थ एव स्यात्। (तत्त्व-सन्दर्भ-विचारः १।३५-४०)

(४) जो अपनेको जीव अभिमान करते हैं, उस अभिमानका त्याग कर देने पर वे ही ब्रह्म हैं।

(५) मुक्ति ही चरम प्रयोजन है।

(६) ब्रह्म निर्गुण अर्थात् निःशक्तिक है।

व्यवहारिक प्रतीतिके विरुद्ध कुछ भी कहनेके लिये विशेष सतर्क होकर कहनेकी आवश्यकता होती है। क्योंकि वैसे कथनको प्रमाणित न कर सकने पर उस वक्ताकी विकृत मस्तिष्ककी श्रेणीमें गणना होती है। जगत सत्य है—यह सहज ही विश्वास होता है। इसके लिये कोई युक्ति या प्रमाणकी साधारणतः आवश्यकता नहीं होती। पुनः जीव एक क्षुद्रतत्त्व है—यह भी सहज प्रतीति है। तथा ब्रह्म सबके सृष्टि कर्त्ता, नियामक और पालक हैं—इस पर भी युक्ति द्वारा सहज ही विश्वास होता होता है। परन्तु इसके विपरीत, 'मैं नहीं हूँ, जो देखता हूँ, वह वैसा नहीं है, अन्दरमें एक सत्य है, उसीके आधार पर इस दृश्यमान जगत्की झूठ-मूठ ही प्रतीत हो रही है--ऐसा कहनेवाला कौन है? यदि भ्रान्ततत्त्व स्वरूप जीव (अज्ञानाश्रित ब्रह्म) ही ऐसा कहता है, तो भ्रान्त जीवकी कही हुई सभी बातें झूठी या मिथ्या हो सकती हैं; उन पर विश्वास करना सर्वथा अनुचित है। मादक द्रव्यों का सेवन कर नशेमें चूर व्यक्ति सब समय ऐसी ही बेसिर-पैरकी बातें किया करते हैं। कभी-कभी वे मन-ही-मन अपनेको बादशाह या नबाब मान बैठते हैं और उसी अभिमानसे कार्य करनेके लिये प्रस्तुत हो पड़ते हैं। ऐसी दशामें वे अपनेको बादशाह या नबाबके बदले यदि ब्रह्म मान बैठें तो इसमें आश्चर्य या संदेहकी बात ही क्या है? भ्रान्तियां कई प्रकार की होती हैं, जिनमें कुतर्कजनित भ्रान्ति, अधिक ज्वर आदिके कारण चित्त की भ्रान्ति तथा नशिली वस्तुओंके सेवनसे भ्रान्ति आदि प्रधान हैं। तर्क द्वारा आक्रान्त मानव-बुद्धि ही ऐसे भीषण भ्रमकी उत्पत्तिका कारण होती है।

युरोपके पेन्थिष्ट (Pantheist) लोगोंका भी यही मत है। उनमें स्पिजा (Spinoza) नामक एक पण्डिताभिमानी व्यक्तिने इस मतको चरमसीमा तक पहुँचा दिया था। अमेरिका आदि पाश्चात्य देशोंमें जिस थियसोफिस्ट मतका प्रचार हो रहा है, वह भी अद्वैतवाद ही है।

पण्डिताभिमानी व्यक्ति जिस मतका समर्थन करते हैं, विचार-शक्तिरहित व्यक्तिगण उसका अनुमोदन करते ही हैं। हमारे देशमें भी दत्तात्रेय, अष्टावक्र और शंकर आदि तर्कप्रिय पण्डिताभिमानी व्यक्तियोंने समय-समय पर इसी मतको कुछ-कुछ भिन्न रूपोंमें प्रचार किया है। आजकल-वैष्णवमत को छोड़कर दूसरे सारे मतसमूह इसी अद्वैतमतके ही अनुगामी हैं। ब्राह्मण समाजमें यह मत अधिकांश रूपमें परिलक्षित होता है। इस मतके इतना व्यापक रूपमें प्रचारका कारण यह है कि कोई भी मत-मतान्तर,नितान्त मिथ्या या भ्रान्त होने पर भी अद्वैतमतकी छत्रछाया ग्रहण करने पर विनष्ट नहीं होता। उदाहरणके लिये एक व्यक्ति या सम्प्रदाय किसी पशुको ईश्वर मानकर पूजता है। ऐसे व्यक्तिको भी अद्वैतवाद अपनी पूर्ण सहायता प्रदान करता है। अद्वैतवाद उस व्यक्तिको अपना अनुगामी

बनानेके लिये कहता है कि पशुको ईश्वर मानकर उसके प्रति मनोयोग करनेसे चित्त एकाग्र और शुद्ध होता है। तदनन्तर साधक अपने एकाग्र और शुद्ध चित्तको उस विषयसे उठाकर अद्वैत तत्त्वमें लगा सकता है। इस विधिसे भ्रान्तसे भ्रान्त विचारोंके व्यक्ति अद्वैतवादमें शरण लेकर तथा अद्वैततत्त्वको ही अपना-अपना चरम उद्धारक मानकर पूजते हैं। वे लोग मूलतत्त्वके दोष-गुणों पर विचार नहीं करते। केवल विशुद्ध भक्त ही तत्त्वका अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे विवेचन करके अद्वैतवादको तिलांजलि देकर भक्ति रूप सहज धर्मका अनुशीलन करते हैं।*

अद्वैतवादका विचार

यहाँ यह विचारणीय है कि अद्वैतवादकी भित्ति क्या है? अद्वैतवादी संसारमें जिन-जिन जड़-वस्तुओं को देखता है उनको सूक्ष्म अनुसंधान द्वारा जड़ पदार्थ मानता है। पुनः चेतन-विशिष्ट वस्तुओंको देखकर उन्हें चेतन जातीय वस्तु मानता है। जिस वृत्तिसे वह इन दोनों प्रकारकी वस्तुओंको अलग-अलग छाँटता है, वह वृत्ति मनकी वृत्ति है तथा वह युक्तिके अन्तर्गत है। चित्तवृत्तिका मूलानुसंधान करना उस वृत्तिका कार्य नहीं है, तो भी बलपूर्वक उस वृत्तिको बार-बार निष्पेसित करके यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि उक्त चित् और जड़—इन दोनों का आश्रय स्थल कोई एक मूल तत्त्व ही हो सकता है। ऐसा सोचकर वे निर्विशेष ब्रह्मकी मूल तत्त्वके रूपमें कल्पना कर उसे ही जड़ और चेतन पदार्थों का मूल आश्रय तत्त्व मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार दूध विकृत होकर दधि बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी विकृत होकर जगत हुआ है, अथवा जिस प्रकार सीपमें कभी-कभी रजत (चाँदी) का भ्रम होता है और रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है, उसी प्रकार उस ब्रह्ममें ही जगतका भ्रम हो रहा है। इस सिद्धान्तके गठनमें कल्पना और युक्तिने अत्यधिक परिश्रम किया है, यह सत्य है; फिर भी इस सिद्धान्तकी समीक्षा करने पर कदम-कदम पर

* नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत। भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये॥

(भा० १२।१०।६)

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

(भा० ३।२५।३४)

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(भा० ३।२९।१३)

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः। येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

(भा० ३।२९।१४)

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम। वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

(भा० ११।२०।३४)

इसमें दोष और भ्रम दृष्टिगोचर होते हैं। यदि ब्रह्मको छोड़कर कोई भी दूसरी वस्तु ही नहीं है, तब इस जगतकी कल्पना कैसे संभव है ? रज्जुमें सर्प-भ्रम तथा शुक्तिमें रजत भ्रम--ये उदाहरण नितान्त अकर्मण्य हैं; इन उदाहरणोंमें रज्जु और सीप सत्य हैं, सर्प और रजत सत्य हैं तथा जिसको भ्रम हो रहा है, वह भी सत्य है । उसी प्रकार रज्जु स्थानीय ब्रह्म, सर्प स्थानीय जगत् तथा द्रष्टा ये तीनों ही सत्य हो पड़ते हैं । अतएव तीन वस्तुओंकी सत्ता स्थिर होने पर अद्वैतवादका महल अपने आप ढह जाता है। शुक्ति और रजतका उदाहरण भी इसी प्रकार निरर्थक है।

अद्वैतवादके इस प्रकारके विचारमें जगतको ब्रह्मका विकार माना जाता है। उदाहरणके रूपमें दूधसे दही रूप विकारको लिया जाता है । उनका यह उदाहरण भी निरर्थक ही बैठता है। क्योंकि उदाहरणमें जैसे दूध सत्यवस्तु है, उसका विकार दही भी उसी प्रकार सत्य है; दही कदापि मिथ्या या अज्ञान कल्पित पदार्थ नहीं है। ठीक इसी प्रकार दूध-स्थानीय ब्रह्मका विकार दधिस्थानीय जगत् भी सत्य ही ठहरता है। इस स्थल पर भी अद्वैत मत टिकता नहीं है। अतएव अद्वैतमतके पोषणमें जितने भी उदाहरण दिये जाते हैं, वे सभी युक्ति विरुद्ध हैं। कोई भी युक्ति अद्वैतमतको स्थापन करनेमें समर्थ नहीं है। और यदि युक्तिको छोड़ दिया जाय तो यह मत सर्वथा असहाय हो पड़ता है; कोई भी इसका समर्थन नहीं करता। यदि कहो सहज-ज्ञान समर्थन करेगा । तो यह भी असम्भव है । सहज-ज्ञानसे तो भेदकी ही प्रतीति हो रही है; उसीको नष्ट करनेके लिये ही तो युक्तिका सहारा लिया गया है। यदि कहो कि वेदोंमें अद्वैतवादकी पुष्टि करनेवाले अनेकों मन्त्र हैं। तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अद्वैत वादी अपने मतके समर्थनमें जिन-जिन श्रुतियोंका आश्रय लेते हैं, उन्हीं श्रुतियोंमें द्वैतमत पोषक मन्त्र भी प्रचुरमात्रामें उपलब्ध होते हैं । उनमें किसी विशेषमतके प्रति पक्षपात नहीं देखा जाता। इसके विपरीत सूक्ष्मरूपसे विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वेदशास्त्रोंमें केवलाद्वैतवाद तथा नितान्त द्वैतवाद—इन दोनों मतोंसे परे अचिन्त्य-भेदाभेद तत्त्वकी ही शिक्षा दी गयी है । उक्त दोनों विवदमान मतोंको दबानेके लिये ही स्थल-स्थल पर दोनों मतोंके पोषक मन्त्रोंका प्रयोग किया गया है।

वास्तवमें केवलाद्वैतमत वेदका मत नहीं है। वेदशास्त्र सिद्धज्ञानके अवतार-स्वरूप निरपेक्ष हैं। वेदमें कोई भी मतवाद नहीं है। सहजज्ञान, वेद-शास्त्र, युक्ति, सहज अनुभूति, सिद्धज्ञान और प्रत्य-क्षानुमान आदि प्रमाण—इनमेंसे कोई भी अद्वैत-वादके समर्थक नहीं हैं । भ्रान्त तर्क और अंध-

विश्वास ही इस मतके पोषक हैं *। जीव मुक्त होने पर ब्रह्म हो जायगा--ऐसे रूपकके रूपमें विश्वास करने से कोई दोषकी बात नहीं है। जड़ाभिमान दूर होने पर ब्रह्माभिमान ही हुआ करता है। परन्तु उस ब्रह्मके स्वगत भेदरूप स्वाद्य, स्वादक और स्वादन —ये तीन भेद भी उस काल उस ब्रह्मभूतव्यक्तिके अनिवार्य धर्म होंगे। मुक्ति किसे कहते हैं? चित् तत्त्वरूप जीवके जड़ाभिमानकी समाप्तिको ही मुक्ति कहते हैं। मुक्ति एक क्षणिक कार्यमात्र है। नित्य-सिद्ध जीवोंके लिये मुक्ति नामक कोई भी तत्त्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वे कभी भी बद्ध नहीं हुए। जब उनको बन्धन ही नहीं है, तब उनको मुक्तिकी क्या आवश्यकता है? मुक्तिकी तब आवश्यकता होती है, जब बन्धन हो, जब बन्धन ही नहीं, तब मुक्तिका प्रयोजन ही क्या है? इसलिये बद्धजीवोंकी ही मुक्ति सम्भव है। जीव दो प्रकारके होते हैं—इसे शुद्धज्ञानके विचार-प्रसङ्गमें बतलाया जायगा। मुक्ति जीवके लिये प्रयोजन है-ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मुक्ति सर्वजीव-सम्बन्धीय तत्त्व नहीं है। प्रेम ही सर्वजीव सम्बन्धीय तत्त्व है। अतएव प्रेम ही प्रयोजन है।

अद्वैतमतमें ब्रह्मको निर्विशेष या निशक्तिक माना जाता है। इसके द्वारा ऐसा होता है कि अन्यान्य वस्तुएँ सविशेष और सशक्तिक हैं उससे ब्रह्म भिन्न है, क्योंकि यह ब्रह्म निर्विशेष और निःशक्तिक है। फिर तो निर्विशेष और शक्तिराहित्य ही ब्रह्मके विशेष गुण हुए। इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्मको निःशक्तिक माना जाता है, तब इस सृष्ट जगत या भ्रममय जगतका अस्तित्व कहाँसे आया। जब इस मतानुसार ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, तब ब्रह्मकी शक्तिको ही दृश्यमान जगत् का कारण मानना पड़ेगा। हम मायावाद खण्डन का कार्य यहीं समाप्त करते हैं, क्योंकि हमारा मूल विषय अभी बाकी पड़ा है। इस विषयमें हमारा यही कहना है कि चतुर्थश्रेणीका ज्ञान जिसे ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं, वह ज्ञानांकुररूप ईशज्ञानकी विकृति है। शंकराचार्य, अष्टावक्र, दत्तात्रेय, नानक, कबीर, गोरक्षनाथ और शिवनारायण—ये चतुर्थश्रेणीके ज्ञानके प्रचारक आचार्यके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उक्त ज्ञानांकुरसे जो शुद्धज्ञान उदित होता है, वह अद्वैत वाद नहीं है।

(क्रमशः)

* एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः। न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥
प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान् गिरिशो मनुः। दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥
यद्यपि वाचस्पतयस्तपो विद्या समाधिभिः। पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम् ॥
शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरु विस्तरे। मंत्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदुः परम् ॥
यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥
तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु। मार्थ दृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु ॥
स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः। आहुर्धूम्रधियो वेदं स्वकर्मकमतद्विदः ॥
(भा० ४।२९।४१-४८)

प्रचार-प्रसंग

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रचारकगण श्री चैतन्य महाप्रभुके प्रेमधर्मका—शुद्धाभक्तिका आजकल पं. बंगालके विभिन्न स्थानोंमें जोर शोरसे प्रचार कर रहे हैं। समितिके संस्थापक एवं नियामक आचार्य—परिव्राजकाचार्यवर्य १०८ श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके निर्देशानुसार (१) त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज, श्रीमुरलीमोहन ब्रह्मचारी, श्रीमाधवदास ब्रह्मचारी तथा श्रीपाद गोराचांद बाबाजी—सुन्दरबनमें (२४ परगनामें), (२) त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त उर्द्धमन्थी महाराज, त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त पर्यटक महाराज, श्री रामगोपाल ब्रह्मचारी, श्रीहरिदास ब्रह्मचारी तथा श्रीलक्ष्मणदास ब्रह्मचारी—बर्द्धमान जिलेमें, (३) त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त त्रिदण्डि महाराज, श्रीपाद नवीनकृष्ण बाबाजी, श्रीकनाई ब्रह्मचारी तथा श्रीकृपासिन्धु ब्रह्मचारी—मेदिनीपुरमें, (४) त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त विष्णुदैवत महाराज श्रीनृत्यकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीभक्त्यांघ्रीरेणु दासाधिभारी तथा श्रीराधा माधव ब्रह्मचारी—मेदिनीपुर (सवांग अंचलमें), (५) त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त परमाद्वैतो महाराज श्रीसनत्कुमार ब्रह्मचारी तथा श्रीचिन्मयानन्द ब्रह्मचारी—मेदिनीपुर, (६) श्रीहरि ब्रह्मचारी, श्रीहरिसाधन ब्रह्मचारी, श्रीसारथीकृष्ण ब्रह्मचारी तथा श्रीसतोश दासाधिकारी—मेदिनीपुर (केशवपुर अंचलमें) तथा श्रीराघवदास ब्रह्मचारी, श्रीवृषभानुदास ब्रह्मचारी श्रीगोवर्द्धन ब्रह्मचारी तथा श्रीनवीन कृष्ण ब्रह्मचारी (बड़े)—मेदिनीपुर में—ये सात पार्टियाँ विभिन्न स्थानोंमें व्यापक रूपमें प्रचार कार्य कर रहीं हैं । अगली संख्यामें विस्तारपूर्वक विवरण प्रकाशित होगा।

—प्रकाशक

दुराग्रह या सर्वनाश

करोड़ों हिन्दुओंकी धार्मिक भावनाओं पर कुठाराघात करती हुई धर्म-निरपेक्ष ?) सरकार गो-हत्या जारी रखनेकी अपनी पूर्व नीतिके दुराग्रह पर अब भी अड़ी हुई है । गौ-वध-बन्दीका आन्दोलन आज देश-व्यापी माँगका स्वरूप धारण कर लिया है । तथा यह स्पष्ट हो चुका है कि यह आन्दोलन सर्व प्रकारके राजनैतिक प्रभावोंसे सर्वथा मुक्त सम्पूर्णरूपसे भारतीय संस्कृतिकी भावनात्मक, रक्षात्मक, आर्थिक तथा राष्ट्रिय एकता आदि सभी दृष्टियोंसे राष्ट्र और विश्वके हितके लिये है। आज पुरीके श्रीशंकराचार्य, एवं श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी आदि सन्तोंके आमरण अनशनके कारण तेजीसे गिरते हुए स्वास्थ्यके कारण सारी भारतीय जनता उद्विग्न है । इस समय सरकारकी थोड़ी सी लापरवाही भी किसी बड़ी दुर्घटनाका कारण बन सकती है तथा वह राष्ट्रके कलंकका कारण बन सकती है । सरकारका यह दुराग्रह सर्वनाशका कारण बन सकता है ।

अतः सरकारको शीघ्र ही पुनः इस विषय पर विचार कर राष्ट्रहितके लिये अपना दुराग्रह छोड़ देना उचित है। गोपाल ऐसी सरकारको शीघ्र ही सद्बुद्धि प्रदान करें—यही प्रार्थना है।

श्रीमद्भागवतकी नामानुक्रमणिका

(क) पात्र

अकृत व्रण—१०।७४।९, १२।७।५,७

अक्रिय—९।१७।१०

अकूपार—(कूर्म) ५।१८।३०

अक्रूर—१।११।१६, १।१४।२८, ९।२४।१५,१७; १०।२८।१६, १०।३६।२७, ४०, १०।३८।१, २१,३४,४३; १०।३९।१०, १३, २१, २६, ३२, ३८, ४०, ४१; १०।४१।९, १८; १०।४६।४८; १०।४८। १२, १६, २८, ३६; १०।४९।७,१५; १०।५७।३, २९, ३०, ३३, ३४; १०।७६।१४; १०।८२।५; ११।३०।१६; १२।१२।३४

अक्रोधन—९ २२।११

अगस्ति—५।२३।७

अगस्त्य—४।१।३५, ४।२८।३२, ६।१८।५,१५; ८।४।११, १०।८४।५

अग्नि—३।६।१२, ३।८।३१, ३।२१।५१, ३।२५।४२, ४।१।४०, ५९, ६१; ४।२।४, ६, ९; ४।९।२१, ४।१४।२६, ४।१५।१८, ४।२२।५६; ४।२४।११, ५।१।२५, ५।१०।१७, ५।२६।१४, ६।१।४२, ६।३।१४, ६।७।३०, ६।१३।१५, ६।१४।३०, ७।१५।५४, ८।१।१९, ८।१०।२६, ८।११।४२, ८।१३।३४, ९।२।२१, ९।१४।४८, ४९; १०।५८। २५,२६; १०।८४।१२, १०।८५।७, १२।८।९

अग्निध्रुक—८।१३।२८

अग्निमित्र—१२।१।१५, १२।६।५५;

अग्निलोक—५।२३।१, ५;

अग्निवर्ण—९।१२।५

अग्निवेश्य—९।२।२१

अग्निष्टोम—४।१३।१६

अग्निष्वात्ता—४।१।६२; ५।२६।५

अग्निसंभव—९।१३।२४

अग्निहोत्र—६।१८।१

अघ—१०।१२।१३, १४, २९, ३८; १०।१३।४, १५; १०।१४।६०

अघमर्षण—९।१२।७

अङ्ग—४।१३।१७, १८, २५, २९; ४।१४।४२, ४।२१।२८, ८।४।२५, ९।२३।५६; १२।२२।१४, १०।२९।३५, ४०; १०।६०।४१

अङ्गद—९।१०।१९, २०, ४३; ९।११।१२,

अङ्गारक—५।२२।१४; ५।२३।७

अङ्गिर—९।२।२६

अङ्गिरा—१।१९।९, ३।१२।२२, २४; ३।२४।२२, ४।१२।३२, ३३, ४।१३।१७, ४।२९।४३, ५।९।१, १३; ६।६।२, १९, ४५; ६।१४।१४, ६१; ६।१५।१२, १७; ६।१६।२६, ५०; ८।८।२७; ८।२३।२०; ९।३।१, ९।६।२, ३; १०।३४।१३; १०।८४।५; ११।१।१२; १२।११।३७

अच्युत—३।१।३६; ३।३२।१९; ४।७।३२; ४।१२ ११, ३७, ४६; ४।१४।३४; ४।२०।३७, ४।२१।४८, ४।२३।२९, ४।२९।३८, ४।३१।१४, ५।१०।२३, ५।१८।२३, ६।३।३४, ६।१७।३४, ६।१८।५२,

७।१।४७, ४८; ७।४।२१, ७।६।१९, ७।९।४०, ७।१४।७, ३५, ३६; ८।९।१६, ९।४।१८, ४१, ६१; ९।५।४, ९।६।३४, १०।२।१८, १०।६।२२, १०।११।१०, २०, २६, ४३; १९।१३।२, १२; १०।१४।५, १०, ३३; १०।१७।१६, १०।२१।१, १०।२२।२०, १०।२३।१८, १०।२७।१९, १०।२९।१०, १०।२९।४३, १०।३०।७, ११, ३०; १०।३१।१६, १०।३२।१०, १०।३३।१३, १४; १०।३४।१७, १०।३६।८, १०; १०।३७।३२, १०।३८।५, १८; १०।३९।१८, १०।४१।३८, १०।४२।७, १५; १०।४३।९, १०।४४।२१, १०।४५।२४, १०।४६।३४,४३; १०।४७।२, ३९; १०।५१।१०, १०।५२।६, ३७; १०।५३।३८, ५५; १०।५४।२८, १०।५६।२९, १०।५८।३, २२; १०।५९।१४, २१, ४१; १०।६०।४४, १०।६४।२७, १०।६६।२, १०।६८।३०, १०।७२।४५, १०।७४।१९, १०।७७।२१, २९, ३४; १०।८१।१२, १०।८३।६, १०।८५।१, १०।८८।१२, ११।१५।२, ११।१७।५, ११।२९।१, ४; १२।३।४३, १२।४।३४, १२।७।१४, १२।९।४, १२।१०।३४, १२।१२।६७

अज—८।८।१६, ८।९।२६, ८।२०।२९, ९।३।३५, ९।१०।१

अज (उर्जकेतु-पुत्र)—९।१३।२२

अज (कृष्ण)—७।११।५, १०।१३।१९, २८; १०।५९।२८, १०।६०।२, १०।८५।५

अज (प्रतिहर्ता-पुत्र)—५।१५।५

अज (ब्रह्मा)—४।२।७, ४।७।१, ४।२१।२९, ४।२२।६१, ५।२।२०, ५।१७।२२, ५।१८।२२, ६।५।२४, ६।७।२०, ७।११।१३, ९।१०।१२, १०।१२।३५, १०।१३।४४,४६, ५५, ५६; १०।१४।१३, १०।४०।३, १०।४६।६२, ११।१६।२२, २५; ११।२७।३, १२।६।४३, १२।१२।६७

अज (भगवान)—५।१८।४, ११, २८; ११।२४।२७, ११।२९।३७;

अज (यम)—६।१।४८

अज (रुद्र)—६।६।१७

अज (शिव)—४।३।११

अजक—९।१५।४

अजन योनिज (दक्ष)—४।३०।४८

अजमीढ—१।१३।२९, १।१५।१३, ९।२१।२१, २२, ३०; ९।२२।४

अजा—१०।८९।५६

अजातशत्रु—११।१९।११, १२।१।५,

अजामिल—६।१।२१, ३१; ६।२।२४, ४९; ६।३।२३,२४;

अजित—५।१८।२८, ६।१६।३४, ४०; ८।५।९, ८।७।१६;

अजीगर्त—९।७।२०

अजैकपाद—६।६।१८

अंजनसुत—१।३।२४

अण्डजेन्द्र—८।१०।५७

अतिकाय—९।१०।१८

अतिभानु—१०।६१।१०

अतिरात्र—४।१३।१६

अतिथि—९।१२।१

अत्रि—१।३।११, १।९।७, १।१९।९, २।७।४, ३।१२। २२, २४; ३।२४।२२, ४।१।१५, १६, १७; ४।१९।१२, १३, १५, २०, २१; ४।२९।४३, ८।१३।५, ९।१४।२, १०।८४।४, १०।८६।१८, ११।१।१२, १२।११।३५

अथर्व—३।२४।२४

अथर्वण—६।१०।२

अथर्वा—४।१।४१, १०।७४।९

अथर्वाङ्गिरस—६।६।१९

अथौजा—१२।११।३४
अदिति—२।३।४, २।७।१७, ५।२४।१८, ६।६।२५, ३८; ६।१८।९, ८।१३।६, ८।१६।१, १८; ८।१७।१, ७, ११, २१, २३, २४; ८।१८।१, १०, ११; ८।१९।३०, ८।२३।४, २१, २७; ९।१।१०, १०।३।४२, १०।५९।३८
अद्भुत—८।१३।१९, २०
अधर्म—३।१२।२५, ४।८।२
अधिरथ—३।१।४०, ९।२३।१२
अधोक्षज—४।२१।२५, ४।३१।१, ६; ५।१३।२२, ५।१८।९, ५।१९।१५, ६।४।२२, १०।५३।११, ४०; १०।२७।९, १०।२९।१३, १०।३७।४, १०।८५।५, १२।४।३१, १२।६।६, १२।८।१३, १२।१०।३६, १२।१२।४९
अध्वरात्मा विष्णु—५।१५।१२
अनङ्ग—१०।६१।२२
अनञ्जन—९।५।८
अनन्त—१।१८।१९, ४।२१।४१, ४।३०।३१, ५।१७।२१, ५।२०।२५, ५।२५।१, २, ६, १३; ६।३।२६, ६।४।३३, ६।१६।२०, ३७, ४६, ४९; ६।१७।१, ७।७।१०, १०; ९।४।६१, ९।५।१४, १०।१।२४, १०।२।५, १०।६।८, १०।१४।२२, २८, १०।१५।३५, १०।१६।१०, ४३; १०।१७।२५, १०।३९।३०, १०।६७।१, १०।६८।४६, १०।८५।३९, १०।८९।५३, ५७; ११।१६।१९, १२।१२।४८
अनन्तदेव—९।९।१४
अनमित्र—९।२४।१२, १३
अनरण्य—९।७।४
अनर्वा—६।१०।१९, ३१
अनसूया—१।३।११, ३।२४।२२, ४।१।१५
अनिरुद्ध—१।५।३७, १।१४।३०, ३।१।३४, ४।२४।३६, ६।१६।१८, ८।१३।२२, १०।१६।४५, १०।४०।२१, १०।६०।१, १०।६१।१८, २५, ४०, १०।६२।१९, १०।८२।६, १०।८९।३०, ४०; १०।९०।३३, ३६; ११।४।२९, ११।३०।१६
अनिल—५।१०।१७, ५।११।१४, ६।४।३४, ८।१०।३१, ९।२२।२७, १०।६१।१६
अनिष्टकर्मा—१२।१।२३
अनीह—९।१२।२
अनु—९।१८।३३, ४१; ९।१९।२२, ९।२३।१, ९।२४।५, ६, २०;
अनुतापन—६।६।३१
अनुमति—४।१।३३, ६।१८।३
अनुम्लोचा—१२।११।३८
अनूरु—६।६।२२
अनुविन्द—१०।५८।३०
अनुह्लाद—६।१८।१३, १६
अनेना—९।६।२०, ११।२।११
अन्तर्द्धान—४।२४।३, ५
अन्तरीक्ष—५।४।११, ९।१२।१२, १०।५९।१२, ११।२।२१, ११।३।३
अन्तर्यामी—५।२०।४०,
अन्धक—३।३।२५, ६।१०।१५, ९।२४।६, २०, ६३; १०।४५।१५
अन्नाद—१०।६१।१६
अपराजित (हस्ती)—५।२०।३९; ८।१०।३०; १०।६१।१६

अपांपति—४।२४।२६
अपान्तरतमा व्यास—६।१५।१२
अप्रतिरथ—९।२०।६
अटमान—१२।१।२२
अप्सरोगण—६।६।२७
अब्जज—१०।५८।३७
अब्जसंभव—४।६।३
अब्जनाभ—३।२१।२२, ४।९।१२, ५।१।१९, ८।४।१३ १०।४०।२८, १०।४४।३७
अब्जभव—८।२१।१
अब्जित—८।५।९, ८।७।१९
अभय—४।१।४९
अमर्क—७।५।१, ४८
अभिमत—६।६।११
अभिमन्यु—३।३।१७, ९।२२।३३
अमर्षण—९।१२।७
अमित्रजित्—९।१२।१२
अमृतप्रभा—८।१३।१२
अम्बरीष—९।४।१३, २५; ९।५।१, २४, २६, २८; ९।६।१, ३८, ९।७।१
अम्बष्ठ—१०।८३।२३
अम्बा—१०।६०।४७
अम्बालिका—९।२२।२४
अम्बिका—३।१।३०, ३।१२।१३, ४।७।५९, ४।१५।१७, ६।१७।१७, ९।१।३०, ९।२२।२४, १०।२।१२, ३४; १०।५३।३९, ४४, ४६, ५०
अम्बुजनाभ—४।१२।७
अम्बुजाक्ष—१०।२९।३६; १०।६०।४१, ४६
अम्बुधारा—८।१३।२०
अयतायु—९।९।१६; ९।२२।१०
अयास्य—९।७।२२
अयुताजित—९।२४।८
अयोमुख—६।६।३०, ६।१०।१९, ८।१०।१९
अरविन्दाक्ष—१०।२।३२; १०।५६।६
अरविन्दनेत्र—१०।२९।३३
अरविन्दलोचन—१०।३७।३; ११।२९।३
अरिजित—१०।६१।१७
अरिन्दम—१०।२३।३०
अरिमर्दन—९।२४।१६
अरिष्ट—६।६।३०, ८।१०।२३, १२।१२।३३
अरिष्ट (रेवती पुत्र)—६।१८।६
अरिष्टनेमि—१।१९।९, ८।६।३१, ८।१०।२२, ९।१३।२३
अरिष्टनेमि (गन्धर्व)—१२।११।४२
अरिष्टा—६।६।२५।२९,
अरुण (दनुपुत्र)—१।१९।११, ५।२१।१४, १५; ६।६।३० ८।१३।२५, १०।५९।१२, १०।९०।३३
अरुणि—४।८।१, १०।६।१८
अरुन्धती—३।२४।२३
अर्क—५।१०।१७; ५।२२।८, १२; ५।२६।१४; ६।६।११, १३; ६।९।१४; ९।२१।३१; १०।८५।७; ११।२६।३४
अर्क (सूर्य)—१२।६।६६
अर्चि—४।१५।५; ४।२२।५३; ४।२३।१९, २६
अर्जुन—१।७।३२, ५५; १।१५।१८, २९; ३।३।१४, ८।५।२, ९।२२।२९, ३२; ९।२३।२४, १०।९।२२, १०।१८।२४, २६; १०।११।२, १०।२२।३१, १०।३७।२१, १०।४३।२५, १०।५८।२५, २६, ५४;